

भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्र

—डॉ. प्रदीप कुमार राव

हिमालय से आच्छादित समुद्रपर्यन्त विशालक्षेत्र में फैला भारत आश्चर्यजनक विभिन्नताओं से परिपूर्ण है। हिमालय पर्वतमालाओं की गोद में बसे क्षेत्र बर्फ से ढके रहते हैं, कश्मीर में उत्तरी यूरोप जैसा मौसम रहता है तो राजस्थान तप्त रेगिस्तानी क्षेत्र है। दक्षिणी प्रायद्वीप में बैसाल्ट की पर्वत-श्रेणियाँ और ग्रेनाइट के पहाड़ हैं तो दक्षिणी छोर पर उष्णकटिबन्धीय गर्मी। पश्चिमी घाट की कंकरीली मिट्टी में घने जंगल हैं। सतरंगी जलवायु से युक्त प्राकृतिक एवं भौगोलिक विविधताओं से भरे-पड़े भारत में वेश-भूषा, भाषा, शारीरिक रंग-रूप, रीति-रिवाज, खान-पान आदि में अन्तहीन विविधता दिखाई पड़ती है। तथापि तटस्थता और सूक्ष्मता से भारत का अवलोकन करने वाले किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को दो परस्पर विरोधी विशेषताएँ अवश्य दिखायी देंगी—अनेकरूपता के साथ-साथ एकता।^१

अनेकरूप भारत में एकता का सूत्र भारतीय संस्कृति है। किसी भी राष्ट्र की मौलिक एकता के कुछ सूत्र होते हैं। सामान्यतः माना जाता है कि एक भाषा, एक धर्म, एक निश्चित भौगोलिक सीमा और फिर एक संस्कृति से राष्ट्र की एकता बनती है। भारत पर यह अवधारणा पूर्णतः नहीं लागू होती। दुनिया में भी यह अवधारणा जर्मनी, वियतनाम, रूस तथा पाकिस्तान, बांग्लादेश सहित मुसलिम राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं के जुड़ने, टूटने तथा अलग रहने से कमजोर हुई है। वस्तुतः प्रत्येक राष्ट्र की अपनी मौलिक विशेषताएँ होती हैं और उनका सामान्यतः सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। भारत की भी अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। भारतीय जीवन दृष्टि अपने तरह की अनूठी है। भारतीय धर्म-संस्कृति की अपनी विशिष्ट अवधारणा है, और उसकी अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, जिन्हें भारतीय मन को समझकर ही पढ़ा-समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति को इन्हीं सन्दर्भों में समझा जाना चाहिए। वस्तुतः भारतीय संस्कृति भारतीयों के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का अपने में पूर्ण विकसित रूप है। विकास और कर्म के क्षेत्रों में जो राष्ट्र का सर्जन है वही उसकी संस्कृति है। भारतीय संस्कृति भारतीय-जीवन की प्रेरणादायिनी शक्ति है। यह राष्ट्र की प्राणवायु है, जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी है। भारतीय संस्कृति भारत के राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। वह मानवीय जीवन को अध्यात्म की प्रेरणा प्रदान करती है। संस्कृति का मूल उद्देश्य मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का विकास करना है। भारतीय संस्कृति भारतीय समाज का मानस और चेतना है। वह समाज का व्यक्तित्व है। यद्यपि कि संस्कृति की अवधारणा पर इतिहासकारों एवं विद्वानों में पर्याप्त मतवैभिन्नता है। संस्कृति को समझने के लिए संस्कृति और स यता के अन्तर्स बन्धों की विवेचना आवश्यक है। स यता और संस्कृति के अर्थ एवं उनके बीच स बन्ध अथवा विभिन्नता पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। प्रसिद्ध नर-विज्ञानी टाइलर स यता और संस्कृति को पर्यायवाची मानते हैं^२ हर्सकोविट्स का भी विचार है कि स यता और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय हैं। उनका मानना है कि पर परा, स यता और संस्कृति तीनों पर्यायवाची हैं^३ प्रसिद्ध इतिहासकार टायनवी ने संस्कृति शब्द का प्रयोग करने की बजाय स यता शब्द का ही प्रयोग किया है।^४ स यता और संस्कृति को भिन्न अर्थों में स्वीकार करते हुए, ब्रानिसला मैलिनाउस्की का मानना है कि ऊँची संस्कृति के एक खास पहलू को स यता कहते हैं।^५ मैकाइवर ने प्राविधिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था में भेद करते हुए लिखा है कि प्राविधिक व्यवस्था उपयोगिता का क्षेत्र है और सांस्कृतिक व्यवस्था मौलिक-मूल्यों का। मैकाइवर भी मानते हैं कि स यता कई अर्थों में संस्कृति की विरोधिनी है।^६ ओस्वाल्ड स्पेंगलर का कहना है कि 'स यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। हर संस्कृति की अपनी स यता होती है। स यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। स यता किसी संस्कृति की बाहरी, चरम, कृत्रिम अवस्था का नाम है। यदि संस्कृति जीवन है तो स यता मृत्यु। संस्कृति विस्तार है तो स यता कठोर स्थिरता।^७ स्वामी सत्यदेव ने लिखा है—'स यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, जबकि संस्कृति आत्मा के अ युत्थान की प्रदर्शिका है। स यता का उत्थान मानव को प्रकृतिवाद की ओर ले जाता है, जबकि संस्कृति मानव को अन्तर्मुखी करके उसके सात्त्विक गुणों को प्रकट करती है। वस्तुतः स यता जितना ही सात्त्विक बनाने में सहायक होगी, समाज उतना ही संस्कृति के क्षेत्र में आगे बढ़ेगा।'^८ स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज^९ 'संस्कृति' को आत्मा के संस्कार से जोड़ते हुए लिखते हैं कि—'आत्मा को प्राकृत नि न स्तरों से मुक्त करके क्रमशः उच्च स्तरों से स बन्धित करने या प्रकृति के सभी स्तरों से मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्द साम्राज्य-सिंहासन पर समासीन करने में आत्मा का संस्कार है। ऐसे संस्कारों की उपयुक्त कृतियाँ ही संस्कृति है; अर्थात्

संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' कही जाती हैं। इस तरह सांसारिक नि न स्तर की सीमाओं में आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल स यक भूषणभूत कृतियाँ ही संस्कृति है। वस्तुतः संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है।' स पूर्णानन्द^{१०} ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि—'संस्कृति समष्टिगत समान अनुभवों से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के गिरि, निर्झर, नदी, सागर को देखने वाले, एक ही प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुख-दुःख को भोगे हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक सा होगा। उनकी सामूहिक आशाएँ और आकांक्षाएँ प्रायः एक सी होंगी। स यता और संस्कृति सर्वथा अस बद्ध न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। संस्कृति आ यन्तर, स यता बाह्य तत्त्व है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है, परन्तु स यता की सद्यः नकल की जा सकती है। भूतपूर्व सांसद, इण्टरनेशनल एकेडमी ऑफ इण्डियन कल्चर के अध्यक्ष प्रो. लोकेश चन्द्र ने लिखा है कि अस्मिता, जीवन, समाज और मूल्यों का समाहार तीन पदों में किया जा सकता है—संस्कार, संस्कृत और संस्कृति। यह अस्मिता की त्रिवेणी है।^{११} यदि भौतिक जीवन की रचना को, श्रम और विश्राम की बाहरी व्यवस्था को, स यता कहा जाए, तो संस्कृति उसके आन्तरिक अर्थानुसन्धान का नाम होगा। स यता मूलतः सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से साधनों का संयोजन है, जबकि संस्कृति स्वतन्त्रता का अनुसन्धान है।^{१२} वास्तव में संस्कृति और स यता पर दुनिया के विद्वानों में पर्याप्त मतवैभिन्यता है। इस मतवैभिन्यता के विभिन्न कारण हैं। इनमें एक महत्त्वपूर्ण कारण अपने-अपने सामाजिक राष्ट्रीय संरचना से तैयार अपना-अपना मानस भी है। स्वाभाविक है कि अनेक सामाजिक-राष्ट्रीय परिभाषाएँ जो भारत के सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में सच हो सकती हैं, दुनिया के तमाम अन्य देशों के सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन पर लागू नहीं हो सकतीं। वस्तुतः संस्कृतियों के बीच टकराव का यह तात्त्विक विभेद भी एक कारण है। इस्लाम और ईसाई, जैसे महत्त्वपूर्ण पन्थों से निर्मित जीवन पद्धतियों अथवा यह कहें कि उनकी संस्कृतियों की अनेक अवधारणाएँ भारतीय धर्म-दर्शन; हिन्दू धर्म-दर्शन; की अवधारणाओं से कभी मेल नहीं खायाँ। इसी प्रकार आधुनिक विज्ञान से उत्पन्न जीवन पद्धतियों या यह कहें कि वैज्ञानिक संस्कृतियों और पर परागत जीवन पद्धति से निर्मित संस्कृतियों के बीच भी अवधारणात्मक विभेद पर्याप्त हैं। अतः संस्कृति पर विचार करते समय राष्ट्र-समाज के दायरे में स बद्ध करके देखा जाना चाहिए। वैश्विक आधार पर संस्कृति के एकीकरण करने, उन्हें परिभाषित करने से जो घाल-मेल उत्पन्न होगा वह किसी भी एक संस्कृति को समझने में विभ्रम पैदा करेगा। भारतीय संस्कृति पर जब हम विचार करें तो भारतीय भूगोल, भारतीय जीवन पद्धति, भारतीय समाज, भारतीय पर पराएँ, भारतीय दर्शन, भारतीय धर्म, भारत की सनातनता और सब मिलाकर भारतीय जीवन पद्धति को केन्द्र में रखना ही होगा। यहाँ यह स्पष्ट करना महत्त्वपूर्ण होगा कि मजहबी अथवा पन्थिक विभेद कहीं भी भारतीय जीवन प्रणाली की एकसूत्रता में बाधक नहीं रहे यथास्थान इसका विवेचन आगे किया जाएगा।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि संस्कृति किसी राष्ट्र या समाज की आत्मा है। इससे उस राष्ट्र-समाज के संस्कारों का बोध होता है, जिसके सहारे वह राष्ट्र-समाज अपने सामूहिक या समाज जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है, जीवन पद्धति विकसित करता है, जीवन-मूल्य प्रतिष्ठित करता है और अपनी एक विशेष पहचान की सगर्व घोषणा करता है। भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों पर विचार करते समय उपरोक्त तथ्यों को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। किन्तु भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन करने का प्रयत्न जब भारतीय मानस करेगा तो अनेक ऐसे तत्त्व अतिपरिचय के कारण छूट भी सकते हैं और अपनी संस्कृति के दोषों को कम करके दिखलाने अथवा उन्हें नजरअन्दाज करने का खतरा बना रहता है। श्री अरविन्द^{१३} की यह बात यहाँ उल्लेखनीय है कि हम अपने अतीत और वर्तमान आधार से भविष्य की ओर किसी विजातीय नहीं, वरन् अपने ही भविष्य की आदर्श दृष्टि डालें। हमें अपनी आत्मा के बाह्य रूपों का पुनर्गठन करना होगा, किन्तु प्राचीन रूपों के पीछे विद्यमान आत्मा को ही हमें उन्मुक्त करना और उसकी सुरक्षा करते हुए उसे नये और ओजस्वी विचार-प्रतीक, सांस्कृतिक मूल्य, नये उपकरण एवं महत्तर रूप प्रदान करने होंगे; परन्तु स्वयं इन परिवर्तनों को भारत की ही भावना एवं साँचे के अनुरूप ढालना होगा। हमें अपनी प्रगति की सच्ची धाराओं को खोजना होगा और साथ ही अपने अन्दर अभीप्सा और प्रेरणा, तेज और शक्ति प्राप्त करनी होगी जिससे हम उन धाराओं की परिकल्पना करके उन्हें कार्यरूप में परिणत कर सकें। यदि हमें यह आधार ग्रहण करना तथा यह प्रयास करना हो तो हमें आवश्यकता होगी एक मौलिक सत्यान्वेषी चिन्तन की, एक ओजस्वी और साहसपूर्ण अन्तर्ज्ञान की, एक अमोघ आध्यात्मिक और बौद्धिक सरलता की। अज्ञानपूर्ण पाश्चात्य आलोचना के विरुद्ध अपनी संस्कृति का समर्थन करने और आधुनिक युग के भीषण दबाव से इसकी रक्षा करने का साहस सबसे पहली वस्तु है, परन्तु इसके साथ ही अपनी संस्कृति की भूलों को, किसी यूरोपियन दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपने निजी दृष्टिकोण से स्वीकार करने का साहस भी होना चाहिए। अवनति या विकृति से

स बन्धित समस्त बातों को एक ओर छोड़ देने पर भी, हमारे जीवन-स बन्धी सिद्धान्तों और सामाजिक प्रथाओं में कुछ ऐसी चीजें हैं जो अपने-आप में भ्रान्त हैं, उनमें से कुछ एक तो समर्थन के भी योग्य नहीं हैं, वे हमारे राष्ट्रीय जीवन को दुर्बल करने वाली, हमारी स यता को नीचे गिराने वाली तथा हमारी संस्कृति की प्रतिष्ठा नष्ट करने वाली हैं। उन चीजों को हमें किसी प्रकार के कुतर्क के द्वारा इन्कार न करके उन्हें स्वीकार करना चाहिए। अस्पृश्यों के साथ जो व्यवहार होता रहा है वह एक उदाहरण है। अतः भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन भारतीय मन अथवा भारतीय दृष्टि से निरपेक्ष भाव से किया जाना अतीत को सँवारने के लिए आवश्यक है। तथापि केवल भारतीय अथवा हिन्दू संस्कृति ही आज भी इस बात का अभिमान कर सकती है कि सहस्रों वर्षों से उसकी जीवनधारा अविच्छिन्न है अर्थात् 'सनातन' है। भारतीय संस्कृति अपने मूलरूप में न केवल अभी तक जीवित है, वरन् निरन्तर नवजीवन भी प्राप्त करती रही है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है स्वयंशुद्धीकरण की।^{१४} इसी विशेषता के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति में समय-समय पर उत्पन्न विकारों को समाप्त करने की आवाज भारतीय संस्कृति के अन्दर से ही उठती रही है। उदाहरणार्थ जब वैदिक धर्म में विकार आया महात्मा गौतम बुद्ध का अ युदय हुआ, जब बौद्धधर्म में विकार पैदा हुआ तो गुरुगोरक्षनाथ और शंकराचार्य आगे बढ़े। अतः भारतीय संस्कृति की इसी विशेषता ने इसकी सनातनता को बनाये हुए इस संस्कृति को सदैव अद्यतन बनाये रखा है। किन्तु इस निरन्तरता और नवीनता के संयोग से दीर्घजीवी भारतीय संस्कृति को परिभाषित करना, उसकी विशेषताओं को रेखांकित करना एवं एक साँचे में लेखबद्ध करना अत्यन्त कठिन है। तथापि कुछ सूत्र ऐसे हैं जो भारतीय संस्कृति की विशेषता के रूप में प्रतिष्ठित हैं और जिन्हें पिरोकर भारतीय संस्कृति को समझा जा सकता है। वस्तुतः संस्कृति अथवा धर्म की भारतीय अवधारणा उसे कालानुसार व्यक्त, किन्तु परमार्थतः सनातन साध्य एवं साधन रूप मानती है। इसीलिए भारतीय पर परा में नैतिक और आध्यात्मिक साधना संस्कृति की प्राणभूत रही है। इस साधना का मार्ग स्वधर्म के पालन से आरंभ होकर चरम सत्य के साक्षात्कार और जीवन-मुक्ति तक विस्तृत है। साध्य-साधन-ज्ञान की यह पर परा ही मूल भारतीय संस्कृति है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डे भारतीय संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखते हैं—'सांस्कृतिक साधना द्विस्तरीय होती है। एक स्तर अव्यावहारिक पारमार्थिक मूल्यों का, दूसरा नैतिक सामाजिक मूल्यों का। व्यावहारिक ऐतिहासिक भूमि में संस्कृति एक भौतिक स यता की संरचना में कढ़ी होती है; और परस्पर-स बद्ध संस्कृति और स यता की यह योजना अपनी एक विशिष्ट भाषा की सांकेतिक व्यवस्था के द्वारा अभिव्यक्त होती है। इन सामान्य सूत्रों को लागू करने पर भारतीय संस्कृति के चार लक्षण निर्धारित किये जा सकते हैं; पहला है—आध्यात्मिक स्तर पर अध्यात्म विद्या एवं योग का; दूसरा है—नैतिक-व्यावहारिक स्तर पर उस व्यवस्था का जिसे पर परागत अर्थ में धर्म कहा जाता है; तीसरा है—संकेत-व्यवस्था का जिसमें मु यतः संस्कृत भाषा, वाङ्मय और प्रतीकात्मक कला को रखा जा सकता है; चौथा लक्षण इनकी अनुबन्धी एक ऐसी भौतिक स यता के रूप में है जिसमें अरण्यवास से नगर संवास तक की अवस्थाएँ चार युगों के समान एकत्र पायी जा सकती हैं।'^{१५}

सारे देश ने बिना सोचे-समझे और एक झूठे तथा विकृत जनवाद के नाम पर यह स्वीकार कर लिया है कि संस्कृति तो एक बुर्जुआ चीज है, बुर्जुआ है इसलिए प्रगति विरोधी है; अर्थात् अगर समाज को बदलना है, अगर प्रगति में गत्यात्मकता लानी है तो संस्कृति को मिटाना होगा। किन्तु संस्कृति न तो बुर्जुआ है, न प्रगति विरोधी है; वह समाज को स्थायित्व देती है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उसे स्थितिशील बनाती है। संस्कृति एक कब्र नहीं है, वह तो जमीन है जिस पर पैर टेके बिना प्रगति हो ही नहीं सकती। बल्कि जो अगर नहीं है तो उस पर खड़ा होने वाला जन ही नहीं है, केवल एक छाया है। भारतीय संस्कृति में साक्षात्कारात्मक ज्ञान, योग साधना और आत्मज्ञान के आदर्श का प्राधान्य है। निष्ठा की कट्टरता के साथ भारत में सभी को अपने स्वीकृत सत्य का अनुसरण करने की स्वाधीनता रही है। धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार की उदारता भारतीय संस्कृति की एक सुविदित विशेषता है। सत्य एक होते हुए भी अनन्त है और उसकी उपलब्धि निजी रूप से और अपनी योग्यता के अनुसार ही हो सकती है। आत्मज्ञान के अनुबन्धी नैतिक क्षेत्र में अहिंसा को सर्वोपरि धर्म मानना भी भारतीय पर परा की सर्वविदित विशेषता है। भारतीय संस्कृति एवं स यता के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए अज्ञेय लिखते हैं कि "हमारी स यता ने पुरानी होते-होते सदियों की गर्द भी जमा कर ली है और वह कूड़ा-करकट अगर झाड़कर साफ कर दिया जाए, जला भी डाला जाए, तो अच्छा ही होगा। पर जो अच्छा है वह इतना मूल्यवान है कि उसकी पहचान से आज भी हम सगर्व विस्मित हो सकते हैं।"^{१६} श्री अरविन्द लिखते हैं—"प्राचीन भारत ऋषियों का देश रहा है। इस देश में हमेशा ऋषि ही सर्वोपरि रहे हैं। वस्तुतः ब्रह्मचर्य और सात्त्विक विकास ने ही भारत के मस्तिष्क का निर्माण किया और योग ने उसे

पूर्णता प्रदान की। भारत में कभी भी आध्यात्मिक रस की धार नहीं सूखने पायी। भारत के जीवन में नये-नये सोते फूटते ही रहे जिन्होंने अपने तपोबल से भारत को प्राचीन यूनान, रोम, मिस्र आदि की तरह लुप्त हो जाने से बचाया।¹⁷⁹ वस्तुतः भारतीय संस्कृति अर्थात् हिन्दू संस्कृति का वास्तविक मूल्यांकन भारतीय मानस से ही किया जा सकता है और इस सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं को समझते हुए भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों का विवेचन किया जा सकता है। इनमें सर्वाधिक प्रमुख अवधारणा मनुष्य के बारे में है।

दुनिया की सभी संस्कृतियों का निर्माण वस्तुतः मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही हुआ। वस्तुतः संस्कृति में मनुष्य एवं समाज के बारे में अवधारणा ही संस्कृति का मूल स्वरूप निर्धारित करती है। दूसरे शब्दों में संस्कृति ही व्यक्ति के चरित्र का गठन करती है, उसे अद्वितीय रूप देती है, फिर उसी व्यक्ति में बहती हुई समाज का अभिषेक करती है।¹⁸⁰ यद्यपि कि संस्कृतियों का निर्माण प्रथमतः स्वयं मानव समाज के नेतृत्वकर्ताओं द्वारा जीवन मूल्यों तथा जीवन पद्धति के सृजन के साथ ही प्रारंभ होता है और बाद में वह जीवनपद्धति एवं उस समाज के जीवन मूल्य भावी पीढ़ी के जीवन-मूल्य निर्धारित करने लगते हैं। मानव बौद्धिक प्राणी है अतः वह युगानुकूल जीवन पद्धति में परिवर्तन और परिवर्धन करता जाता है तथापि कुछ विकसित ऐसे शाश्वत जीवन मूल्य प्रतिष्ठित हो जाते हैं जो उस संस्कृति की मूल पहचान बन जाते और जिनमें परिवर्तन बहुत कठिन होता है या यह कहें कि उन शाश्वत मूल्यों में परिवर्तन के साथ वह संस्कृति अपनी पहचान खो देती है। भारतीय संस्कृति ने 'मनुष्य' के ऐसे जिन शाश्वत जीवन मूल्यों का सृजन किया उसे ही हमारे ऋषियों-मनीषियों ने 'सनातन' कहा। सृष्टि, ब्रह्माण्ड, प्रकृति, परमात्मा, आत्मा, मनुष्य के सन्दर्भ में सदियों की गहन तपस्या, दर्शन और शोध से निर्मित भारत की इस सनातन संस्कृति ने 'मानव' जीवन को पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के रूप में परिभाषित किया। 'आत्मा' को 'परमात्मा' का अंश स्वीकार करते हुए 'मनुष्य' के जीवन जीने की कला विकसित की गई। ऐहिक जीवन के साथ-साथ पारलौकिक जीवन की खोज और उसकी प्रतिष्ठा की गई। मानव जीवन में उपभोग (अर्थ-काम) के साथ 'धर्म' को प्रधानता मिली तथा धर्म आधारित उपभोगपूर्ण जीवन जीते हुए 'धर्म' के बल पर मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सुझाया गया। वस्तुतः 'धर्म' भारतीय संस्कृति का प्राण है। मनुष्य को 'धर्म' का मार्ग पकड़कर मृत्युलोक का जीवन जीते हुए परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग भारतीय संस्कृति में प्रशस्त हुआ। भारतीय संस्कृति में 'मनुष्य' को 'धर्म' का वह व्यापक आधार मिला जिसके सहारे वह मृत्युलोक और परलोक दोनों पर अपना विजयध्वज फहरा सकता है।

धर्म की भारतीय अवधारणा को समझने के लिए पुनः भारतीय दृष्टि चाहिए, भारत का चित्त चाहिए और भारतीय मानस चाहिए। श्री अरविन्द ने कहा था—“ भारतीय धर्म का निरूपण पश्चिमी बुद्धि की जानी हुई परिभाषाओं में से किसी के भी द्वारा नहीं किया जा सकता। अपने समग्र रूप में यह समस्त आध्यात्मिक पूजा और अनुभूति का स्वतन्त्र और सहिष्णु समन्वय रहा है। एकमेव सत्य को उसके अनेक पार्श्वों से देखते हुए इसने किसी भी पार्श्व के लिए अपने द्वार बन्द नहीं किये। इसने न तो अपने को कोई विशेष नाम दिया और न अपने को किसी सीमाकारी पार्थक्य से आबद्ध ही किया। अपने अंगभूत मतों और विभागों के लिए पृथक् नामों को स्वीकार करता हुआ यह स्वयं अपनी चिरन्तन जिज्ञासा के विषय में ब्रह्म की नाई नाम-रूप-रहित, विश्वव्यापी और अनन्त ही बना रहा। अपने पर परागत शास्त्रों, पूजा पद्धतियों और प्रतीकों के द्वारा अन्य मतविश्वासों से सुस्पष्टतया भिन्न होता हुआ भी यह अपने मूल स्वरूप में कोई मत-विश्वासात्मक धर्म बिल्कुल नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति की एक विशाल बहुमुखी, सदा एकत्व लाने वाली और सदा प्रगतिपरायण एवं आत्मविस्तारशील प्रणाली है।”¹⁸¹

अज्ञेय धर्म की भ्रमपूर्ण अवधारणा पर टिप्पणी करते हैं। उनके अनुसार—“ वास्तव में जब हम मध्यकालीन ईसाई यूरोप और सांस्कृतिक भारतवर्ष की चर्चा करते हैं, और दोनों के सन्दर्भ में एक ही शब्द 'धर्म' का उपयोग करते हैं तो भाषा की एक सीमा का आरोप अपने चिन्तन पर कर देते हैं। भारत का धर्म और पश्चिम का रेलीजन न तत्त्वतः एक ही चीज है, एक ही दृष्टि का या एक ही जीवन का प्रतिबिम्ब बन करते हैं। धर्म धारण करता है, रेलीजन बाँधता है—दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही इस भेद को स्पष्ट कर देती है। क्योंकि धर्म-दृष्टि विश्व मात्रा की गति को धर्मदण्ड के आस-पास घूमने वाला मानती हुई मत, स प्रदाय और विश्वास के बारे में पूरी छूट दे देती थी, इसलिए इस देश में संस्कृति का धार्मिक होना हमारे लौकिक जीवन के लिए बाधा या प्रतिबन्ध न होकर सुरक्षा का आधार बन जाता था और बना रहा। दूसरी ओर पश्चिम के 'रेलीजन' की दृष्टि सबसे पहले मत विश्वास को बाँधती थी, Credo उसकी आधारशिला थी, इसलिए आरंभ से ही उसमें धार्मिक और लौकिक के बीच विरोध का सन्ध बन जाता था।”¹⁸² वस्तुतः भारतीय संस्कृति ने धर्म की एक ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की जो व्यक्ति-समाज-राष्ट्र के लिए नियम-कानून का पर्याय बना।

भारतीय संस्कृति में धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कार्यों को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित, नियमित, संयमित और नियन्त्रित करता है तथा उसे स्वस्थ और उज्ज्वल जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। वास्तव में नियमबद्ध, संयमित और सात्त्विक जीवन ही धार्मिक जीवन है।¹²⁹ आचार अथवा सदाचार को धर्म का लक्षण माना गया है तथा सदाचार से ही धर्म को फलीभूत होने वाला कहा गया है।¹³⁰ मनुस्मृति में भी कहा गया है कि वेद और स्मृतियों में आचार को ही श्रेष्ठ धर्म माना गया है।¹³¹ महाभारत में अन्यत्र कहा गया है कि धारण करने वाले को धर्म कहते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है।¹³² जो कर्म किसी को क्लेश नहीं पहुँचाता, बल्कि लोक कल्याण करता है, जो समस्त नैतिक कार्यों का दर्पण है, अर्थात् जो कर्तव्यों का संग्रह है, वही धर्म है।¹³³ दूसरे शब्दों में लौकिक अथवा अदुःख और पारलौकिक सुख की प्राप्ति ही धर्म है; अर्थात् जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है। यथा- 'यतोऽयुदयनिःश्रेयसिसिद्धिः स धर्मः ॥' क्रिया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी होना धर्म का लक्षण है। महर्षि कणाद ने कहा है कि धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दया और दान से वह बढ़ता है, क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है।¹³⁴ मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण—धृति अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी मन में न उठे, अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, शौच अर्थात् पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, धीः अर्थात् श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग एवं योगा यास से बुद्धि का विकास, विद्या, सत्य और अक्रोध बताये गये हैं।¹³⁵ मनुस्मृति में यहाँ तक कहा गया है कि विद्वान् राग-द्वेष रहित जो कर्म नित्य करे, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा सत्य कर्तव्य जाने, वही धर्म है और वही स्वीकार्य एवं करणीय है।¹³⁶ मनुस्मृति इस बात पर विशेष बल देती है कि अपने ज्ञान-चक्षु द्वारा भली-प्रकार विचार कर अपनी आत्मा की आवाज पर ही धर्म का निर्धारण स्वयं करें।¹³⁷ भारतीय संस्कृति में धर्म की इसी व्यापकता के कारण सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म, आपद् धर्म जैसे वर्गीकरण के साथ देश धर्म, जाति धर्म, कुल धर्म, आश्रम धर्म, गुण धर्म, नैमित्तिक धर्म, मानव मूल्य, आदि का धर्म के अन्तर्गत ही विवेचन किया गया है। सामान्य धर्म के अन्तर्गत मानवतायुक्त नैतिक आचरण का विशद उल्लेख भारतीय साहित्य, लोक एवं जीवन में मिलता है। भारत में मानव-मूल्यों का नियोजन इसी साधारण धर्म के अन्तर्गत हुआ है। यह धर्म समस्त मानव जाति से सन्बन्धित है, उसके लिए कल्याणकारी है। भारतीय संस्कृति में इस सामान्य धर्म के अन्तर्गत सत्य, तप, शुचिता, दया, कष्ट-सहिष्णुता, नीर-क्षीर विवेक, मन पर नियन्त्रण, इन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, अहिंसा, स्वाध्याय, सन्तोष, सरलता, सयक दृष्टि, सेवा, परोपकार, क्रमशः सांसारिक त्याग, लौकिक सुख की सीमा, आत्मचिन्तन, सभी प्राणियों में परमात्मा का दर्शन, भक्ति, शरणागत-रक्षा, अतिथि सेवा, माता-पिता-गुरु का स मान आदि अनेक मानवोचित गुणों को समाहित किया गया है।¹³⁸ कहा जा सकता है कि 'धर्म' के माध्यम से भारतीय संस्कृति ने जीवन-मूल्यों का सृजन किया। ऐसे जीवन-मूल्य जो शाश्वत और सनातन हैं। जब-जब दुनिया में मानवता की बात की जाएगी और जीवन के जिन गुण-धर्मों का उल्लेख किया जाएगा, पलटकर देखने पर वह भारतीय संस्कृति द्वारा प्रतिपादित धर्माधिष्ठित मानव जीवन मूल्य ही होंगे। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भारतीय संस्कृति की इसी विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखा कि "भारतीय ज्ञान केवल भारतीय राष्ट्र के ही पुनरुत्थान के लिए आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य-जाति मात्र के पुनः शिक्षण के लिए भी जरूरी है।" रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि "हिन्दू धर्म का विधिवत अध्ययन करते-करते श्री राधाकृष्णन भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचे जिस पर विवेकानन्द, गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द पहुँचे थे।"¹³⁹ मानव-जीवन मूल्यों में हास और मानवजीवन के ध्येय पर चिन्तित राधाकृष्णन कहते हैं—“विज्ञान ने आधिभौतिक सुखों में तो काफी वृद्धि की, किन्तु मनुष्य के मन को उसने विषण्ण बना डाला। आत्मा, परमात्मा एवं सृष्टि के ध्येय और उद्देश्य को अविचारणीय बताकर उसने मनुष्य को, मानो यह शिक्षा दी कि तु हारा काम जन्मना, बढ़ना, कमाना और खर्च करना, सन्तान उत्पादन करके वृद्ध होना और फिर इस विश्वास को लेकर मर जाना है कि मनुष्य-शरीर भी प्रकृति-परिचालित यन्त्र है और इस यन्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त मानव-जीवन का और कोई ध्येय नहीं है।"¹⁴⁰ अन्ततः जो व्यवसाय और जीविका का संसार है, उसे इस संसार में जीने वाले ईश्वर से विच्छिन्न मानकर चलते हैं तथा यह समझते हैं कि इस व्यवसायी विश्व में अशान्ति और संघर्ष, विरोध और दुराव तथा छल और प्रपंच, सभी क्षय हैं। ऐसे में वे जब व्यवसाय की दुनिया में थक जाते हैं, तभी केवल विश्राम पाने को धर्म की दुनिया में आते हैं और अपनी वैयक्तिक साधना और अनुमान को धर्म का स पूर्ण रूप मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु ऐसा विभाजन नहीं चल सकता। यह तो धर्म और अधर्म के बीच समझौते का उदाहरण होगा। धर्म स पूर्ण जीवन पद्धति है, वह नश्वर में अनश्वर तथा अचिर में चिर का अनुसन्धान है। धर्म जीवन का स्वभाव है। धर्म ज्ञान और विश्वास से अधिक कर्म और आचरण में बसता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, तो हमारे आचरण में इस विश्वास का प्रमाण

मिलना ही चाहिए।

मनुष्य जब धर्म की इस वास्तविक अवधारणा को ग्राह्य नहीं करता, जब तक वह मनुष्य की आत्मा को नहीं पहचानता एवं जीवन-मूल्य अर्थात् धार्मिक मूल्यों को अपने भीतर प्रतिष्ठित नहीं करता तब तक उसमें विज्ञान के कल्याणकारी उपयोग की योग्यता नहीं आयेगी। विज्ञान को छोड़ें या न छोड़ें, मनुष्य के आगे यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से आदर्श व्यक्ति और आदर्श समाज का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है? राधाकृष्णन इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि “यह कार्य मनुष्य की आध्यात्मिक शक्तियों को जगाये बिना स पन्न नहीं किया जा सकता। हमारे विचारों की प्रेरणा ईश्वरीय होनी चाहिए। हमारे संकल्पों का आरंभ ईश्वरीय इच्छा में होना चाहिए। हमारी भावनाओं को ईश्वरीय आनन्द से एकाकार होना चाहिए। सत्य, शिव और सुन्दर से समन्वित जिस व्यक्तित्व को हम ईश्वर का नाम देते आए हैं, उसका अधिक-से-अधिक सामीप्य प्राप्त करना मानव-जीवन का उद्देश्य है। अपने आपको ईश्वरीय सत्ता के स्तर तक ले जाना, यह मनुष्य का श्रेष्ठतम ध्येय है।” श्रीमद्भगवद्गीता में धर्म की इसी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि धर्म वह है जिसमें सांसारिक अयुक्त और आध्यात्मिक उन्नति दोनों ही प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भारतीय संस्कृति से धर्म द्वारा सृजित मानव जीवन मूल्य का निचोड़ प्राप्त हो जाता है। योग-कर्म-भक्ति के अद्भुत समन्वय के साथ व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय तथा प्रकृति के साथ, एक स पूर्ण मनुष्य के जीवन का तादात्म्य परिभाषित किया गया है। दैवी स पदा से युक्त मानव गुणों का उल्लेख करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—“भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा, अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र विरुद्ध आचरण में लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शुचिता, किसी के भी प्रति शत्रुभाव का न होना, अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव- ये सब उत्तम पुरुष के लक्षण हैं।^{३३} काम, क्रोध और लोभ नरकगामी तथा आत्मनाशी स्वभाव हैं।^{३४} सत्व, रज और तम गुणों से निर्मित मानव स्वभाव का विशद विवेचन भारत के लगभग सभी शास्त्रों में किया गया है और इस आधार पर सात्त्विक, राजसी, तामसी जैसे तीन मनुष्य के गुण-स्वभाव माने गये हैं।^{३५} एक आदर्श-प्रज्ञा स पन्न, ज्ञान-भक्ति-कर्म से युक्त मनुष्य की विशेषताओं का तात्त्विक विवेचन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—“जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख को समान समझने वाला,^{३६} स पूर्ण कामनाओं को भली-भाँति त्याग देने वाला, आत्मसन्तुष्टि प्राप्त कर लेने वाला, जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये हों, इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेने में सफलता प्राप्त कर लेने वाला, आसक्ति, कामना और क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेने वाला, अन्तःकरण की प्रसन्नता से युक्त तथा स पूर्ण दुःखों से मुक्त, अहंकार रहित निःस्पृह व्यक्ति ही वास्तविक शान्ति प्राप्त करता है।^{३७} मानव गुणों का विकास भारतीय संस्कृति में धर्म के ही आलोक में हुआ और यह परंपरा भारत में स्वतन्त्रता के समय राज्य द्वारा ‘धर्मनिरपेक्ष’ घोषित होने तक निर्बाध रूप से चलती रही। इस्लामी शासन के दौरान भी भक्ति आन्दोलन ने भारतीय जीवन पद्धति के धर्माधिष्ठित जीवन-मूल्यों को बनाये रखने एवं उन्हें पुनर्प्रतिष्ठित करने का पूरा प्रयत्न किया। तुलसीदास कृत ‘श्रीरामचरितमानस’ इस बात का सबसे प्रमुख प्रमाण है। धर्म के माध्यम से जीवनमूल्य का उल्लेख करते हुए श्रीरामचरितमानस में विजयी युद्ध-रथ का उल्लेख करते हुए श्रीराम कहते हैं कि जिससे जय होती है उस रथ के शौर्य एवं धैर्य दो पहिये हैं; सत्य और शील उस रथ की मजबूत ध्वजा और पताका हैं; बल, विवेक, दम अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखना और परोपकार चार घोड़े हैं, जो क्षमा, दया और समता रूपी डोरी से रथ में जोड़े गये हैं; ईश्वर भक्ति ही चतुर सारथी है; वैराग्य ढाल है और सन्तोष तलवार है। दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान धनुष है। निर्मल-अचल मन तरकस के समान है। शम अर्थात् मन का वश में होना, यम और नियम बाण हैं। ऐसा धर्ममय रथ जिसके पास हो उसकी विजय सुनिश्चित है।^{३८} श्रीरामचरितमानस में काम, क्रोध, दम, कपट, मोह, मद, लोभ^{३९}, परद्रोह^{४०}, राग, द्वेष, ईर्ष्या^{४१} आदि अवगुणों से मुक्ति यशस्वी जीवन के लिए आवश्यक बताया गया है। मनुष्य जीवन के लिए जिन गुणों की चर्चा विभिन्न सन्दर्भों में बार-बार आती है उनमें दूसरे के दुःख में दुःखी और दूसरे के सुख में सुखी होना, दीनों पर दया, शीतलता, सरलता^{४२}, परहित^{४३}, मातृभूमि प्रेम^{४४}, परस्पर प्रेम एवं स्वधर्म पालन^{४५}, शरणागत की रक्षा^{४६}, सन्तोष^{४७}, सेवा^{४८}, साधुमत एवं लोकमत के अनुसार आचरण^{४९}, परस्त्री को माता के समान समझना^{५०}, माता-पिता-गुरु की आज्ञा का पालन^{५१}, सत्य^{५२}, सास-ससुर की सेवा^{५३} आदि प्रमुख हैं।

इसी प्रकार रहीम गरीबों की भलाई^{४४}, प्रेम^{४५}, उत्तम प्रकृति^{४६}, सज्जनों का स मान^{४७}, परहित^{४८}, मान-स मान की रक्षा^{४९}, उपकार^{५०} इत्यादि गुणों को मानव जीवन की अमूल्य निधि मानते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में धर्म के माध्यम से जीवन-मूल्य का सृजन हुआ। धर्म में जीवन की समग्रता का भारतीय ऋषियों ने दर्शन किया। हिन्दू धर्म ही ऐसा धर्म है जो जीवन की छोटी-से-छोटी घटना को भी धर्म से अलग नहीं करता।^{५१} व्यक्ति जीवन से लेकर विश्व जीवन तक स पूर्ण जीवन की रचना का अधिष्ठान भारत में धर्म को ही माना गया है।^{५२}

श्री अरविन्द कहते हैं कि—“भारत का केन्द्रीय विचार यह है कि एक सनातन सत्ता है, एक परम आत्मा है जो यहाँ जड़ में आच्छादित एवं विवर्तित है तथा इसके अन्दर अन्तर्यामी रूप में सदा विद्यमान है। इस भौतिक स्तर पर वह व्यक्ति के पुनर्जन्म के द्वारा सत्ता की स्तर-पर परा में ऊपर की ओर विकसित हो रहा है। इस प्रकार विकसित होते-होते वह मनोमय मनुष्य के अन्दर विचारों के जगत् में तथा सचेतन नैतिकता अर्थात् धर्म के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। यह सफलता, अचेतन प्रकृति पर यह विजय उसकी दिशाओं को विकसित करती है; उसके क्षेत्र को विकसित करती तथा उसके स्तर को उन्नत करती है; और यह विकास तब तक चलता रहता है जब तक कि मनरूपी साधन के सात्त्विक या आध्यात्मिक अंश की बढ़ती हुई अभिव्यक्ति मनुष्य के अन्दर के व्यष्टिभूत मनोमय पुरुष को मन से परे की शुद्ध अध्यात्म-चेतना के साथ अपना तादात्त य स्थापित करने के योग्य नहीं बना देती। भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था इसी विचार पर आधारित है; उसका दर्शन इसी को सूत्रबद्ध करता है, उसका धर्म आध्यात्मिक चेतना तथा उसके फलों की प्राप्ति के लिए अभीप्सा स्वरूप है, उसकी कला तथा उसके साहित्य में यही ऊर्ध्वमुखी दृष्टि पायी जाती है; उसका स पूर्ण धर्म या जीवन-विधान इसी पर प्रतिष्ठित है। प्रगति को वह अवश्य स्वीकार करता है; किन्तु इस आध्यात्मिक प्रगति को ही, न कि नित-अधिकाधिक समृद्ध एवं कार्यदक्ष बनती जाने वाली जड़वादी स यता की बाह्य विकास की प्रक्रिया को। इस उदात्त विचार पर जीवन की प्रतिष्ठा तथा आध्यात्मिक एवं शाश्वत सत्ता की ओर उसका प्रवेग ही उसकी स यता के विशिष्ट मूल्य हैं। और किसी भी प्रकार की मानवीय त्रुटियों के होते हुए भी, इस उच्चतम आदर्श के प्रति उसकी निष्ठा ने ही उसके निवासियों को मानव जगत् में एक विलक्षण जाति बना दिया।” अतः भारतीय संस्कृति में धर्म ने मनुष्य, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व, सृष्टि और ब्रह्माण्ड के बीच एक अटूट रिश्ता प्रतिष्ठित किया। भारतीय धर्म की वास्तविक अवधारणा को समझे बिना व्यक्ति-समाज-संस्कृति-राष्ट्र के बीच रागात्मक स बन्ध की न तो अनुभूति होगी, न तो समझ पैदा होगी और न ही उसकी व्या या की जा सकती है। अतः भारतीय सन्दर्भ में धर्म-संस्कृति की वास्तविक अवधारणा के आलोक में विकसित ‘राष्ट्र’ की भावना से ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। ऐसे में ‘राष्ट्र’ की सांस्कृतिक अवधारणा के विवेचन से ही भारतीय राष्ट्र की वास्तविक परिकल्पना समझी जा सकती है। किन्तु यह बात स्पष्ट और उल्लेखनीय है कि ‘धर्म-संस्कृति’ ही ‘राष्ट्र’ का केन्द्र-बिन्दु है।

श्री अरविन्द दो टूक शब्दों में कहते हैं कि “हिन्दू राष्ट्र का जन्म सनातन धर्म के साथ हुआ था, राष्ट्रवाद वह धर्म है जो हमें ईश्वर से मिला है। यह धर्म के साथ आता है और धर्म के साथ ही विकसित होता है। जब सनातन धर्म का अधःपतन होता है तो यह राष्ट्र भी अधःपतित होता है और यदि धर्म प्राणहीन होता है तो राष्ट्र भी प्राणहीन हो जाता है। सनातन धर्म ही भारत की राष्ट्रीयता है, राष्ट्रवाद है। भारत में राष्ट्रीयता राजनीति नहीं, बल्कि एक धर्म है, एक विश्वास है, एक निष्ठा है।”^{५३} श्री अरविन्द आगे कहते हैं—“जब यह कहा जाता है कि भारत का उदय होगा तो इसका अर्थ है कि सनातन धर्म का उदय होगा; जब यह कहा जाता है कि भारत महान् बनेगा तो इसका अर्थ है कि सनातन धर्म महान् होगा; जब यह कहा जाता है कि भारत स्वयं को व्यापक और विस्तृत करेगा तो इसका अर्थ है कि सनातन धर्म विश्व में विस्तृत और व्यापक होगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही वृहदाकार भारत का अस्तित्व है।” स्वामी विवेकानन्द ने धर्म और राष्ट्रीयता की अभेदता स्पष्ट करते हुए कहा कि—“चाहे तु हारी आध्यात्मिकता में हो या न हो, राष्ट्रीय जीवन की रक्षा हेतु तु हें आध्यात्मिकता के आधार पर टिके रहना होगा; तभी एक चमत्कारी, गौरवशाली भावी भारत का उदय होगा। स्मरण रखो यदि तुम पाश्चात्य भौतिकतावादी स यता के चक्कर में पड़कर धर्म यानी आध्यात्मिकता का आधार त्याग दोगे तो उसका परिणाम होगा कि तीन पीढ़ियों में तु हारा जातीय अस्तित्व मिट जाएगा। क्योंकि राष्ट्र का मेरुदण्ड टूट जाएगा; राष्ट्रीय भवन की नींव ही खिसक जाएगी।”^{५४} किन्तु स्वतन्त्र भारत की बागडोर जिन हाथों में आयी उन्हें भारत की राष्ट्रीयता की समझ कितनी थी? वे धर्म की भारतीय अवधारणा को क्यों नहीं समझ पाये? भौतिकवादी पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में वे अन्धे क्यों बने? ऐसे अनेक प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ पाना कठिन है। किन्तु इतना सच है कि स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारतीय संस्कृति की नींव पर ऐसी धर्माधिष्ठित समाज की रचना करने का हमें स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ था, जो दुनिया में एक श्रेष्ठतम जीवन पद्धति का वाहक बनता, दुनिया को सुख और शान्ति का वास्तविक सन्देश देता। हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का पुनर्जागरण न केवल हमारी राष्ट्रीयता के

विकास एवं प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक था बल्कि पीड़ित मानवता को शान्ति, सामंजस्य और खुशहाली का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भी अपरिहार्य था। किन्तु हम पश्चिम के प्रभाव में न तो पश्चिम जैसा बन पाये और न अपना बचा पाये। सेकुलरवाद की दिग्भ्रमित अवधारणा ने भारतीय राष्ट्र के स्वरूप को ही विकृत कर दिया और 'राष्ट्र' की आत्मा धर्म-संस्कृति को ही तिरस्कृत कर राष्ट्रीय एकता, अखण्डता और राष्ट्रीय स प्रभुता की आधी-अधूरी संकल्पना पर स प्रभु राष्ट्र को खड़ा करने का काल्पनिक प्रयास किया गया।

मातृभूमि की अवधारणा से भारतमाता की धारणा तक के विकास-क्रम को समझे बिना भारत-राष्ट्र की अवधारणा नहीं समझी जा सकती और भारतीय संस्कृति के ज्ञान के बिना उपर्युक्त विकास-क्रम को समझ पाना असंभव है। मातृभूमि की अवधारणा के सूत्र का विस्तार ऋग्वेद^{६५} तक जाता है, जहाँ अज्येष्ठ, अकनिष्ठ और अमध्यम; अर्थात् सब प्रकार से समान मनुष्यों को भूमि-पुत्र कहा गया है। इस सूत्र का विस्तार अथर्ववेद में मिलता है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड में प्रथम सूक्त के सभी ६३ मन्त्र मातृभूमि के स बन्ध में हैं।^{६६} इन मन्त्रों में मातृभूमि की आध्यात्मिक एवं भौतिक व्याख्या के साथ-साथ उसका सांस्कृतिक पक्ष भी स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः^{६७} की अवधारणा भारतीय है। यूनानी-रोमी संस्कृति में देश को पेत्रिस् पेत्रा, पेत्रि, पैतृक अथवा पितृभूमि कहा गया, जिसका जर्मन और आंग्ल परंपरा में 'वटरलैण्ड', 'फादरलैण्ड' के रूप में अनुरणन मिलता है। किन्तु इनकी पितृभूमि की वैसी आधिदैविक धारणा नहीं मिलती है, जैसी मातृभूमि के स बन्ध में भारतीय संस्कृति में मिलती है। वास्तव में मातृभूमि की परिकल्पना केवल भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में ही उपलब्ध होती है। भारतीय ऋषियों ने अपनी परंपरा एवं पूर्वजों से भारत को जोड़कर सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता के आधार पर राष्ट्र का स्वरूप निर्धारित किया;^{६८} भारत-भूमि को कर्मभूमि माना^{६९} और अपने विशिष्ट धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों के साथ भावात्मक एकता की प्रतिष्ठा की। भारत में राष्ट्र की अवधारणा इसी सांस्कृतिक-भावात्मक तत्त्वों के विकास-क्रम के साथ विकसित हुई। भारत की यही संस्कृति राष्ट्र के स पूर्ण शरीर में प्राणों के समान संचार करती है। किन्तु 'राष्ट्र' की भारतीय अवधारणा को भी मैकाले के मानसपुत्रों ने नजरअन्दाज किया तथा 'राष्ट्र' को 'नेशन' का पर्याय मानकर भारत में थोप दिया।

भारतीय उपमहाद्वीप में राष्ट्र निर्माण की विकास प्रक्रिया और यूरोप तथा अमेरिका महाद्वीप में राष्ट्र निर्माण एवं विकास की प्रक्रिया सर्वथा भिन्न रही है। यूरोप में राष्ट्रीयता का प्रारंभ ट्रिस्को जर्मनिक इन्वेजन (Trisco Germanic Invasion) के पश्चात् हुआ। विशेष रूप से पोप की अधिसत्ता के खिलाफ अलग-अलग राजाओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नेशन का निर्माण हुआ। वस्तुतः पश्चिम में 'नेशन' के निर्माण का इतिहास मात्र लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष का है। भारत में राष्ट्र की अवधारणा सनातन है। भारतीय संस्कृति के अयुदय एवं विकास के साथ-साथ राष्ट्र की अवधारणा के अयुदय एवं विकास का अनवरत क्रम चलता रहा। यहाँ राष्ट्र और राज्य दो अलग-अलग सत्ताओं का विकास हुआ। आगे चलकर देश और राष्ट्र अभिन्न होते हुए भी अलग-अलग सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस सन्दर्भ में विनायक दामोदर सावरकर एवं दीनदयाल उपाध्याय के विचार महत्वपूर्ण हैं।

'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' को विनायक दामोदर सावरकर ने भी भारतीय संस्कृति (हिन्दुत्व) के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करने का प्रयास अपनी प्रसिद्ध कृति 'हिन्दुत्व' में किया है।^{७०} यद्यपि कि सेकुलर की पाश्चात्य अवधारणा का चश्मा पहने विद्वान् सावरकर की उपर्युक्त कृति पढ़े बिना ही उसे 'सेकुलरवाद' पर खतरा मानते हुए सा प्रदायिक घोषित कर पढ़ने से ही परहेज करते हैं; तथापि सावरकर की यह एक सौ उनतालीस पृष्ठ की छोटी सी पुस्तिका महात्मा गांधी के 'हिन्द स्वराज' की ही भाँति हिन्दुत्व और राष्ट्र को समझने तथा भारत की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की पुनर्प्रतिष्ठा की कुंजी है। सावरकर ने न केवल हिन्दुत्व की वैज्ञानिक व्याख्या की है वरन् भारत की हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा से उत्पन्न मुसलमानों और ईसाइयों की तथाकथित समस्याओं पर भी गंभीरतापूर्वक चर्चा की है और समाधान प्रस्तुत किया है। सावरकर कहते हैं 'हिन्दुत्व' केवल शब्द मात्र नहीं है, अपितु अपने आप में एक स पूर्ण इतिहास ही है; और इसी प्रकार हिन्दू एक राष्ट्र है। राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया पर उनकी पैनी दृष्टि घोषित करती है—

“जब आर्यावर्त में निवास करने वाली आर्य जाति ने आर्य और अनार्य दोनों को मिलाकर एक राष्ट्र निर्माण कर दिया और विन्ध्याद्रि के भी पार दूर तक अपनी संस्कृति की पताका फहरा दी, तब ऐसी जाति के लिए आर्यावर्त नाम बहुत ही अपूर्ण था। एक ऐसे नाम की आवश्यकता थी जो भारतीय राष्ट्र की व्यापक भावना का परिचय दे सके। यह प्रयोजन एक बहुत बड़ी सीमा तक उस समय सिद्ध हुआ जब कि समस्त भूमि पर भरतवंश की पताका फहरा उठी। आर्यावर्त और दक्षिणापथ के लोगों ने अपनी मातृभूमि का यह नाम ही स्वीकार नहीं कर लिया अपितु इसी नाम से अपनी मातृभूमि और

संस्कृति के साम्राज्य को पुकारने में भी उन्हें स्नेहपूर्ण आनन्द की अनुभूति होती थी। ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर अन्तरिक्ष का पट खुलता गया, त्यों-त्यों हम देखते हैं कि जाति के गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र सप्तसिन्धुओं के प्रदेश से हटकर गंगा तट के प्रदेश में आता गया, और सप्तसिन्धु, आर्यावर्त अथवा दक्षिणापथ, ये नाम दबते गये तथा स पूर्ण राष्ट्र के लिए एक नाम प्रचलित हुआ भरतखण्ड। यह नाम राजनीतिक दृष्टि से भी बड़ा भव्य था और इसमें आसेतु हिमाचल समस्त देश का अन्तर्भाव निहित था। हमारे राष्ट्र की परिभाषा करने का जो प्रयास उस समय किया गया, तब राष्ट्र की यह महान् भावना हमारे प्राचीन आचार्यों के मस्तिष्क में उद्भूत हो रही थी। विष्णुपुराण में राष्ट्र की इसी अवधारणा का चित्र खींचते हुए कहा गया- उत्तरं यत्समुद्रस्य... भारती यत्र संततिः। भारतीय राष्ट्र की कल्पना ज्यों-ज्यों व्यापक होती गयी, त्यों-त्यों अन्य सभी शब्दों की तुलना में 'हिन्दुस्थान' शब्द ने इस कल्पना को अधिक स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया।^{१९}

दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्र, राज्य और देश को अलग-अलग सत्ता मानते हुए कहते हैं- "राष्ट्र एक जीवमान इकाई है। वर्षों-शताब्दियों लंबे कालखण्ड में इसका विकास होता है। किसी निश्चित भू-भाग में निवास करने वाला मानव समुदाय जब उस भूमि के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगता है; जीवन के विशिष्ट गुणों को आचरित करता हुआ समान पर परा और महत्वाकांक्षाओं से युक्त होता है; सुख-दुःख की समान स्मृतियाँ और शत्रु-मित्र की समान अनुभूतियाँ प्राप्त कर परस्पर हित सन्धियों में ग्रन्थित होता है; संगठित होकर अपने श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए सचेष्ट होता है; और इस पर परा का निर्वाह करने वाले तथा उसे अधिकाधिक तेजस्वी बनाने के लिए महान् तप, त्याग, परिश्रम करने वाले महापुरुषों की शृंखला निर्मित होती है तब पृथ्वी के अन्य मानव समुदायों से भिन्न एक सांस्कृतिक जीवन प्रकट होता है। इस भावात्मक स्वरूप को ही राष्ट्र कहा जाता है। जब तक यह राष्ट्रीय अस्मिता बनी रहती है राष्ट्र जीवित रहता है। इसके क्षीण होने से राष्ट्र क्षीण होता है; और नष्ट होने से राष्ट्र नष्ट हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्र एक स्थायी सत्य है। राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए राज्य पैदा होता है। राज्य बदला जा सकता है, किन्तु राष्ट्र की एक स्वयंभू सत्ता है। राष्ट्र का अस्तित्व बहुमत या अल्पमत पर आधारित नहीं रहता। देश और राष्ट्र अभिन्न होते हुए भी इस अर्थ में भिन्न है कि देश एक दृश्यमान सत्ता है तो राष्ट्र अदृश्यमान सत्ता है। देश शरीर है तो राष्ट्र उसकी आत्मा।"^{२०}

महन्त दिग्विजयनाथ ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहा कि "राष्ट्रीयता का निर्माण विदेशी राष्ट्रों की संस्कृति, स यता, मनोभावना एवं पृथक्-पृथक् महत्वाकांक्षाओं के समिश्रण से कभी नहीं होता। राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है। किसी भी भूखण्ड में निवास करने वाले उस समूह को ही राष्ट्र कहा जाता है जो उस भूखण्ड की संस्कृति, स यता, पर परा, इतिहास आदि को स्वीकार करता हुआ परस्पर एकता की अनुभूति रखता हो।"^{२१} 'भारत-भारती' में मैथिलीशरण गुप्त ने राष्ट्र के जिस स्वरूप का चित्र खींचा है वह भारतीय संस्कृति की आधारशिला पर ही खड़ा राष्ट्र है।^{२२}

भारतीय संस्कृति और राष्ट्र का उपर्युक्त विवेचन वामपन्थी-मुसलिम-ईसाई और तथाकथित प्रगतिशील बुद्धिजीवियों-विचारकों द्वारा यह कहकर नकार दिया जाता रहा है कि राष्ट्र की यह हिन्दूवादी सा प्रदायिक अवधारणा है। अनेक वामपन्थी विचारक तो भारत को बहुराष्ट्रीय संघ घोषित करने की षडयन्त्रकारी योजना के अंग होने तथा लंबे समय तक रूस तथा अब चीन की विखण्डनकारी नीति के तहत भारतीय राष्ट्र की स्वाभाविक सांस्कृतिक एकता एवं अखण्डता को स्वीकार नहीं करते। वे जान-बूझकर भारत में हिन्दू संस्कृति अर्थात् 'हिन्दुत्व' की वास्तविक अवधारणा पर भ्रम का आवरण डाले रखना चाहते हैं। क्योंकि इन्हें पता है कि यदि 'हिन्दुत्व' की वास्तविक अवधारणा से भारत का दिग्भ्रमित हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि खँचों में बँटे परिचित हो गये और भारत के सांस्कृतिक राष्ट्र का अभेद्य भवन खड़ा हो गया तो इनकी रोजी-रोटी खतरे में पड़ जाएगी। परिवर्तन की इस आँधी में 'बाँटो और राज करो' के वसीयतदार राजसत्ताओं के तबू उखड़ जाएँगे जिनकी कृपा पर इन वामपन्थी-मुसलिम विचारकों की दुकान चलती है। वस्तुतः स्वतन्त्र भारत में सत्ता पर वामपन्थी गुट का अनायास कब्जा हो जाने और पाश्चात्य संस्कृति में पढ़े-लिखे अंग्रेजों के प्रतिनिधि जवाहर लाल नेहरू को भारतीय सत्ता की बागडोर प्राप्त हो जाने से अंग्रेजों तथा उनके प्रतिनिधियों द्वारा लिखित भारत के स पूर्ण विकृत इतिहास को संरक्षण एवं संवर्द्धन प्राप्त हो गया। 'समाजवाद' एवं 'सेकुलरवाद' की पाश्चात्य अवधारणा को भारत पर थोप दिया गया, जिस अवधारणा का जन्म ही पाश्चात्य देशों की विशेष परिस्थितियों में हुआ था। परिणामतः भारतीय धर्म, संस्कृति, राष्ट्र इत्यादि अवधारणाओं पर भ्रम का आवरण चढ़ गया। 'द्विराष्ट्र' के सिद्धान्त पर विभाजित भारत की राजनीतिक सत्ता विभाजन के विषबीज का उच्छेदन करना तो दूर उसे पुनः पुष्पित-पल्लवित करने लगी। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध, महावीर, चाणक्य, पाणिनि, तुलसी, कबीर, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, मदन मोहन मालवीय, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, विनायक दामोदर सावरकर, डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार,

बाबा साहब, सुभाष चन्द्र बोस, बाबा साहब भीमराव अ बेडकर, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राधकृष्णन, महन्त दिग्विजयनाथ, भाईजी हनुमान प्रसाद पोद्दार, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, राम मनोहर लोहिया, दीन दयाल उपाध्याय आदि के भारतीय राष्ट्र की अवधारणा मूर्त रूप न ले सकी। भारत अलगाववादी आन्दोलनों का गढ़ बनता गया। कश्मीर, पंजाब, पूर्वोत्तर के राज्य, उत्तर-दक्षिण विवाद की समस्याएँ राष्ट्र की वास्तविक अवधारणा के हास का परिणाम हैं। अपनी मातृभूमि-पुण्यभूमि से भावात्मक रिश्तों की कमजोर पड़ती कड़ी से भारत की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता की डोर कमजोर हुई है। तथापि भारत का एक बहुत बड़ा वर्ग 'सांस्कृतिक राष्ट्र' की अवधारणा की लौ अभी जलाये हुए है। भारत की शिक्षा-प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन के साथ जिस दिन भारतीय संस्कृति में निहित राष्ट्र की अवधारणा से भ्रम का आवरण छूटेगा, भारत दुनिया में एक बार फिर मानवता की रक्षा के लिए एक सशक्त, समृद्ध, जि मेवार और मार्गदर्शक भूमिका में खड़ा दिखेगा। दुनिया यह समझेगी भी, मानेगी भी कि 'हिन्दुत्व' मानवता की रक्षा का एकमात्र विकल्प है, हिन्दू जीवन-दर्शन में ही मानव जीवन की सुख-शान्ति का मार्ग निहित है।

सन्दर्भ

१. डी.डी. कोसंबी, प्राचीन भारत की संस्कृति और स यता, तीसरा संशोधित संस्करण, १९९०, पृष्ठ-११।
२. ई. टाईटलर, प्रिमिटिव कल्चर, भाग-१, जान मरे, लन्दन, चतुर्थ संस्करण, १९०३, पृष्ठ-१।
३. एम.जे. हर्सकोविट्स, मैन एण्ड हिज वर्क्स, अल्फ्रेड ए. नाफ, १९४९, पृष्ठ-१७।
४. आर्नल्ड जे. टायनवी, ए स्टडी आफ हिस्ट्री, डी.सी. सामरवेल कृत संक्षेप, ज्याफरे क बरलेज, लन्दन, १९४९, पृष्ठ-१९६।
५. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज, भाग-४, पृष्ठ-६२१।
६. आर.एम. मैकाइवर, सोशल काजेशन, अध्याय १०.; आर.एम. मैकाइवर एण्ड सी.आर. पेज, सोसायटी: ऐन इण्ट्रोडक्टरी एनेलिसिस, मैकमिलन, १९४९, पृष्ठ-४९८ तथा आगे।
७. द्रष्टव्य, पी.ए. सरोकिन, सोशल फिलासफीज आफ ऐन एज आफ क्राइसिस, एडम एण्ड चार्ल्स ब्लैक, लन्दन, १९५२, पृष्ठ-७७-७८।
८. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, चौबीसवें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०५१, पृष्ठ-२३५।
९. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, चौबीसवें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०५१, पृष्ठ-३६।
१०. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, चौबीसवें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०५१, पृष्ठ-६९।
११. प्रो. लोकेश चन्द्र, संस्कृति निर्मिति और व्यापकता, चिन्तन सृजन, त्रैमासिक, वर्ष-एक, अंक-तीन, २००४।
१२. डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, भारतीय पर परा के मूल स्वर, तृतीय संस्करण, १९९३, पृष्ठ-८।
१३. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, द्वितीय संस्करण, २००२, पृष्ठ-४०-४१।
१४. प्रो. शिवाजी सिंह, पुराणान्तर्गत इतिहास, प्रथम संस्करण, २०१०, पृष्ठ-१०।
१५. डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, भारतीय पर परा के मूल स्वर, तृतीय संस्करण, १९९३, पृष्ठ-११।
१६. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, द्वितीय संस्करण, २००५, पृष्ठ-१८३, १८४, ६६।
१७. रवीन्द्र, श्री अरविन्द: जीवन और दर्शन, पाँचवाँ पुनर्मुद्रण, २००५, पृष्ठ-८३।
१८. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, द्वितीय संस्करण, २००५, पृष्ठ-३४६।
१९. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-१५०-५१।
२०. अज्ञेय, केन्द्र और परिधि, द्वितीय संस्करण, २००५, पृष्ठ-१५५।
२१. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, संशोधित संस्करण, १९८०, पृष्ठ-२४०।
२२. आचार लक्षणो धर्मः सन्त श्चारित्रलक्षणः।
साधूनां च यथा वृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥ महाभारत, अनुशासन पर्व, ५४.९।
२३. आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ मनुस्मृति, १.१०८।
२४. धरणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ महाभारत, कर्ण पर्व, १०९.५८।
२५. राधाकृष्णन, रेलीजन एण्ड सोसायटी, पृष्ठ-१०५-०६; गोखले, इण्डियन थॉट थ्रू दि एजेज, पृष्ठ-२५।
२६. सत्याज्जायते दयया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्शयति। द्रष्टव्य- कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृष्ठ-३७०।
२७. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ मनुस्मृति, ६.९२।
२८. विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेना यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ मनुस्मृति, २.१।
२९. सर्व तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मं निविशेत वै ॥ मनुस्मृति, २.८।

३०. श्रीमद्भागवत्, ७.११, ७.१२।
३१. द्रष्टव्य, रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, नवीन संस्करण, २००५, पृष्ठ-५५३।
३२. द्रष्टव्य, रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, नवीन संस्करण, २००५, पृष्ठ-५५७।
३३. श्रीमद्भगवद्गीता, पचासवाँ पुनर्मुद्रण, संवत् २०६४, १६, १-३।
३४. श्रीमद्भगवद्गीता, पचासवाँ पुनर्मुद्रण, संवत् २०६४, १६, २१।
३५. श्रीमद्भगवद्गीता, पचासवाँ पुनर्मुद्रण, संवत् २०६४, १६, ७-२२।
३६. श्रीमद्भगवद्गीता, पचासवाँ पुनर्मुद्रण, संवत् २०६५, २, ३८।
३७. श्रीमद्भगवद्गीता, पचासवाँ पुनर्मुद्रण, संवत् २०६५, २, ५५-७१।
३८. श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड, ७९, १-६।
३९. श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, ३८; बालकाण्ड, २२७; अयोध्याकाण्ड, १२९.१; अरण्यकाण्ड, ३८२; अरण्यकाण्ड १५.६; अरण्यकाण्ड, ४३; किष्किन्धाकाण्ड, १४.४; किष्किन्धाकाण्ड, १४.२; सुन्दरकाण्ड, २३; उत्तरकाण्ड, ६९.४।
४०. श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड, ९१.२।
४१. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ७३.३।
४२. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, ३७, १-३; ४५.१।
४३. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, ४०.१।
४४. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, ३.२; ४०.१; अरण्यकाण्ड, ४५.४; अरण्यकाण्ड, ३०.५।
४५. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, २०.१।
४६. श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, ४३।
४७. श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, १५.२; अरण्यकाण्ड ३५.२।
४८. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २९२.४।
४९. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २५८।
५०. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १२९.३; बालकाण्ड २०३.३।
५१. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ७०, ७३.३; बालकाण्ड, २०४.४, ७७.२।
५२. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ९४.३, ३४.४।
५३. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ६०.३।
५४. दोहावली, ६३।
५५. दोहावली, ६८, २०७।
५६. दोहावली, ७४।
५७. दोहावली, ८६।
५८. दोहावली, ८९, २१३।
५९. दोहावली, १४८।
६०. दोहावली, १६३।
६१. श्री अरविन्द, उत्तरपाड़ा भाषण, तृतीय संस्करण, २००४, पृष्ठ-१६।
६२. भानु प्रताप शुक्ल, संकेत रेखा, द्वितीय संस्करण, १९९२, पृष्ठ-१३१।
६३. श्री अरविन्द, उत्तरपाड़ा भाषण, तृतीय संस्करण, २००४, पृष्ठ-१६।
६४. रामलाल, स्वामी विवेकानन्द, प्रथम संस्करण, १९९३, पृष्ठ-१४।
६५. ऋग्वेद, ५.५८.६।
६६. विश्व भर शरण पाठक, देश के अभिधान, प्रथम संस्करण, १९९२, पृष्ठ-२।
६७. अथर्ववेद, १२.१.१२।
६८. महाभारत, भीष्मपर्व, ५-७; विष्णुपुराण, २,४,२४।
६९. विष्णुपुराण, २,३,२; २.३.५।
७०. सावरकर, हिन्दुत्व, संस्करण-२००२, हिन्दी साहित्य सदन, नयी दिल्ली।
७१. सावरकर, हिन्दुत्व, संस्करण-२००२, हिन्दी साहित्य सदन, नयी दिल्ली, पृष्ठ १९-२०।
७२. दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र जीवन की दिशा, चतुर्थ संस्करण, १९९६, पृष्ठ ३३ से ४५।
७३. योगी आदित्यनाथ, महन्त दिग्विजयनाथ ने कहा था, वि.सं. २०५२, पृष्ठ-३।
७४. देखें—मैथिलीशरण गुप्त रचित 'भारत-भारती'। उदाहरणार्थ—

सबकी नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्त प्रवाह हो,
गुणशील, साहस, बल तथा सबमें भरा उत्साह हो।
सबके हृदय में सर्वदा समवेदना की दाह हो,
हमको तु हारी चाह हो, तुमको हमारी चाह हो।